समालोचनार्थ

॥ श्री ॥

महावीर वाणी

मानव-जीवन के अशान्त तथा निराश क्षणों में
सात्विक प्रेरणा, उत्साह और आध्यात्मिक
पुरुषार्थ का संचार करनेवाले
मंगल-सूत्र

सम्पादक
श्री. पण्डित बेचरदास जी दोशी

प्रकाशक
श्री भारत जैन महामण्डल
कार्यालय - वर्धा (मध्यप्रांत)

दो शब्द

'महावीर-वाणी' का सम्पादन करके पण्डित श्री बेचरदासजी दोशी ने तथा इसे प्रकाशित करके सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली ने जन-साधारण का वस्तुतः महान् उपकार किया है।

यह पुस्तक पहले प्राकृत गाथाओं और हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुई थी। प्राकृत भाषा के महत्त्व को मानते हुए भी जन साधारण की अभिरुचि और प्रचार-सुलभता की दृष्टि से केवल हिन्दी रूपान्तर ही प्रकाशित किया जा रहा है।

इसमें संकलित किए गए उपदेश सम्प्रदाय-वाद और पक्ष-पात से रहित है। हम समझते हैं इनके मनन तथा स्वाध्याय से सर्व-साधारण को सुख, शांति तथा आनन्द प्राप्त होगा और आत्म निरीक्षण की सत्प्रेरणा भी मिलेगी।

श्री भारत जैन महामण्डल चाहता है कि स्थान-स्थान पर सामूहिक प्रार्थना सभाएं हो। इसलिए उपयुक्त समझकर 'मेरी-भावना' नामक प्रार्थना को भी संग्रहीत कर दिया गया है।

इसका प्रकाशन सुप्रसिद्ध समाज-सेवी आदरणीय भाईजी श्री. चिरजीलालजी बडजाते वर्धा द्वारा उनकी स्व. पूज्य मातेश्वरी की स्मृति मे स्थापित 'श्री सुगणाबाई बड़जाते जैन ट्रस्ट' की प्रदत्त ५०१) की सहायता से हुआ है। इस उदार तथा महत्त्वपूर्ण

सहायता के लिए मण्डल की ओर से उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। इसी सहायता से 'स्व. सुगणाबाई ग्रथमाला' प्रारंभ की जा रही है, जिसका यह प्रथम पुष्प है। इस प्रकाशन से होनेवाली आय ऐसे ही अन्य प्रकाशनों में खर्च की जाएगी।

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया तो उत्साह पाकर ऐसी ही उद्‍बोधक एवं प्रेरक सामग्री लेकर पुनः सेवा में प्रस्तुत होने का प्रयत्न किया जायगा। प्रचार की दृष्टि से इसका मूल्य लागत मात्र आठ आने रखा गया है। इत्यलम्

धामणगांव (बरार)
ता० २३-६-१९४८

सुगनचंद्र लुणावत
प्रधान मंत्री,
श्री भारत जैन महामण्डल.

महावीर वाणी—

स्व० श्रीमती सुगणाबाई बड़जाते

जन्म

स्वर्गवास

ता० २१ मार्च १९३८

जीवन-झांकी

स्व. श्रीमती सुगणाबाई जी

अजमेर मेरवाड़ा में रूपनगढ़ नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहां पर श्री मन्नालालजी पाटणी और उनका परिवार रहता था। उनके दो पुत्र श्री जुहारमल जी तथा हंसराज जी और दो कन्याएं थीं। उनमें से एक सगुणाबाई थी। आर्थिक कठिनाई तथा अन्य कारणों से श्री मन्नालाल जी का परिवार बरार में अकोला जिले के वासिम नामक ग्राम में आकर बस गया। उनके वंशज आज कुशल व्यापारी, सम्पन्न तथा सुखी हैं।

श्रीमती सगुणाबाई का जन्म विक्रम संवत् १९३४ के आस-पास हुआ और विक्रम संवत् १९४७ में श्री. जेठमल जी बड़जाते के साथ आपका विवाह कर दिया गया। उनकी शिक्षा आदि के विषय मे आज के ५० वर्ष पूर्व की सामाजिक स्थिति की कल्पना ही उत्तर दे सकती है। जो मारवाड़ी समाज, विशेषकर राजस्थान मे रहनेवाला मारवाड़ी समाज आज भी स्त्री शिक्षा के विषय में इतना उदासीन तथा संशयी बना हुआ है, उसकी अर्ध-शताब्दी पूर्व की अवस्था के विषय में कुछ न कहना ही उपयुक्त है।

श्री. जेठमलजी के पिता कुन्दनमलजी अपने बन्धु चंपालाल जी के साथ वर्धा मे आकर कपड़े का व्यवसाय करने लगे थे।

योगायोग की बात कि विवाह के पाँच वर्ष पश्चात् ही श्री. जेठमल जी का स्वर्गवास हो गया। अब सगुणाबाई के विधवा हो जाने से उनके संरक्षण का भार श्री. पन्नालाल जी पर आ पड़ा। श्री. पन्नालालजी चंपालालजी के पुत्र थे।

श्री. पन्नालालजी अत्यन्त व्यवहार कुशल और पक्के व्यवसायी थे। कपड़े के व्यापार मे आपने करीब दो-ढाई लाख रुपयों की कमाई की। वर्धा की दिगम्बर जैन समाज की प्रवृत्तियों तथा हलचलो में उनका प्रमुख स्थान रहता था। आपने जीवन-भर श्रीमती सगुणाबाई को, भौजाई होते हुए भी मातृत्व की दृष्टि से देखा। हिन्दुओं में विधवाओं के साथ जेसी दुष्टता और तिरस्कार पूर्ण मनोवृत्ति का व्यवहार किया जाता है, उससे पन्नालालजी का परिवार दूर था। बाल-विधवा होने पर भी सुगणाबाई को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ।

श्री. पन्नालालजी धार्मिक तथा सात्त्विक वृत्ति के पुरुष थे। अपनी मृत्यु के समय वे एक ट्रस्टडीड मुकर्रर कर गए थे और मृत्यु-लेख में श्रीमती सुगनाबाई तथा अपनी धर्मपत्नी को एक-एक लड़का दत्तक लेने का अधिकार भी सौंप गए थे।

निश्चयानुसार दोनों के नाम से दो लड़के दत्तक लिए गए। उम्रास [मारवाड़] में श्री. मोहरीलाल जी बड़जाते र ते थे। उनका एक लड़का श्रीमती सुगणाबाई के लिए श्री. जेठमलजी के नाम बिठाया गया। यही लड़का आज हमारे बीच, अनुभव की तीक्ष्णता और वृद्धता को लेकर श्री. चिरंजीलाल जी बड़जाते के नाम

से सुप्रसिद्ध है । श्री. पन्नालालजी की पत्नी मोहनादेवी के भी एक लड़का दत्तक लिया गया जिनका नाम श्री. सूरजमलजी बड़जाते था । उनका स्वर्गवास ता. १५ फरवरी '४२ को हो गया, उनकी धर्मपत्नी तथा दो पुत्र बुलढाना रहते हैं ।

दोनों भाइयों का दत्तक विधान होने तक और उसके कुछ काल बाद तक भी सारा परिवार सम्मिलित रूप से रहता था । लेकिन बाद में श्री. चिरंजीलालजी और सूरजमलजी अलग-अलग होकर स्वतन्त्र रूपसे व्यवसाय चलाने लगे । यह विभागी-करण ता. २३-८-२१ को हुआ ।

श्रीमती सुगणाबाई सात्त्विक विचारों की साहसी महिला थीं । अलग होने पर जब चिरंजीलालजी ने रुई आदि के व्यापार में करीब-करीब डेढ़ लाख की सम्पत्ति, स्टेट खत्म कर दी, तब भी सुगणाबाई ने किसी प्रकार का दुख नहीं किया और न चिरंजीलाल जी को निराश किया । प्रायः देखा गया है कि दत्तक पुत्रों और माताओं में मेल नहीं बैठता तथा निरन्तर कलह मची रहती है, परंतु सुगणाबाई के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते ।

वे धार्मिक विचार की थीं । संवत् १९५७ में वर्धा में जब प्लेग फैला तब उन्होंने श्री दिगम्बर जैन मंदिर पर गुंबद बनवाने का संकल्प किया । मंदिर के ऊपरी भाग में वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव सन् १९२४-२५ में किया गया । उसी समय श्री भारतवर्षीय दि० जैन परिषद् का अधिवेशन भी वर्धा में हुआ । अधिवेशन तथा प्रतिष्ठा में बाहर के कई सज्जन सम्मिलित हुए थे । बा. अजित-

प्रसादजी लखनऊ, बै. चंपतरायजी, ब्र. शीतलप्रसादजी जैसे व्यक्तित्वों का लाभ प्राप्त हुआ था। समस्त आगत सज्जनों के भोजन आदि का प्रबंध सुगणाबाई जी की ओर से था। इस उत्सव में करीब ५ हजार रुपया खर्च हुआ था। एक बार वे अपने कुटुंबियों के साथ भगवान-गोमटेश्वर-बाहुबली की यात्रा को भी गई थीं।

यद्यपि वे पुराने विचारों की भद्र परिणामी महिला थीं, तथापि चिरंजीलालजी को उनकी सामाजिक सेवाओ के समय बराबर साथ और साहस दिया है। अब से २५ वर्ष पहले की इन बातों को जब हम देखते हैं तो आश्चर्य होता है आज के शिक्षितों के वाणी शब्द-सुधार-वाद पर। म्युनिसीपल कमेटी के मेम्बर की हैसियत से जब चिरंजीलालजी ने सार्वजनिक कुंओं को सब के लिए खुलवा दिया तब जातिवालों ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया। उनकी मां श्रीमती सुगणाबाई को भी बहकाया गया, धमकी दी गई परंतु चिरंजीलालजी का साथ नहीं छोड़ा। एक बार जब वे मंदिरजी दर्शनार्थ जा रही थीं तब किसीने शब्द-तीर फेंका—'यह कौन मंदिर जा रही है?" तब दूसरी ओर से आवाज आई—"यह ढेडनी है।" परन्तु इस अपमान और तिरस्कार को पचाने की शक्ति भी उन्हीं में थी। दूसरों के तो खैर, कुटुम्बी-जनो के द्वारा भी उनका अपमान किया गया, उन्हें सताया गया, परन्तु उन्होने तो इसे अपनी परीक्षा समझ कर झेला और सहन किया। यदि यह शक्ति उनमें न होती तो आज चिरंजीलालजी का जो सामाजिक रूप दीख रहा है, वह न दीखता। ऐसे अवसरों पर स्व. सेठ जमनालालजी बजाज उन्हें ढाढस बंधाते और साहस की प्रेरणा देते। स्व. सेठ साहब के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त आदर था।

स्नेह और सौजन्य की तो वे देवी थीं। उन्हें अतिथि-सत्कार और पर पीड़ा हरण में बहुत आनन्द आता था। चिरंजीलालजी का जीवन निर्माण उनकी गोदी में ही हुआ और कहना चाहिए कि उनके स्नेह तथा सौजन्य ने ही इन्हें मनुष्य बनाया है। पं. अर्जुनलाल जी सेठी, पं. उदयलाल जी काशलीवाल और ब्र. शीतलप्रसाद जी उनका आतिथ्य-सत्कार प्राप्त कर चुके हैं। यह चिरंजीलालजी का सौभाग्य है कि दत्तक आने के पश्चात् जहां उनके बिगड़ने की संभावना सहज थी, वहां वे उतने ही मजबूती से सुधर गए। यह उनकी माताजी के जीवन तथा स्व. जमनालालजी बजाज का ही प्रभाव है कि उनमें समाज, धर्म तथा राष्ट्र के प्रति प्रेम है, दूसरो का आदर करना वे समझते हैं।

श्रीमती सुगणाबाई का स्वर्गवास संवत् १९९५ में ता० २१-३-३८ को हो गया। उनकी स्मृतिमें श्री. चिरंजीलाल जी ने 'श्री सुगणाबाई बड़जाते जैन ट्रस्ट' स्थापित किया है। यह पारिवारिक ट्रस्ट है।

उनके आशीर्वाद मे उनका परिवार सुखी, समृद्ध तथा सम्पन्न है। चिरंजीलाल जी के तीनों पुत्रों के तथा एक पुत्री का विवाह हो गए हैं। और वे सब अपने-अपने पैरों पर खड़े होने की ताकत रखते हैं। एक कन्या कुमारी शांता का विवाह होना है। मझले पुत्र श्री विजयकुमार के एक पुत्र चि. जैनेन्द्र कुमार है।

हम यही आशा करते हैं कि अपनी माताजी की भावनाओं का चिरंजीलालजी ने जैसा पालन और निर्वाह अपने जीवन में किया है, आगे की पीढ़ियां भी उनके आदर्श को विस्मृत नहीं करेंगी।

—जमनालाल जैन, साहित्य-रत्न.

—: विषय सूची :—

महावीर वाणी—

मंगल-सुत्तं

नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

मंगलं

अरिहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।

लोगुत्तमा

अरिहंता लोगुत्तमा ।
सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

सरणं

अरिहंते सरणं पवज्जामि ।
सिद्धे सरणं पवज्जामि ।
साहू सरणं पवज्जामि ।
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

धर्म-सूत्र

१. धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। (कौन-सा धर्म ?)

अहिंसा, संयम और तप। जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदेश किये धर्म का आचरण करे।

३. छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करे; अदत्त (बिना दी हुई वस्तु) न ले, विश्वासघाती असत्य न बोले—यह आत्मनिग्रही सत्पुरुषो का धर्म है।

४. जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है, और उत्तम शरण है।

५. जो पथिक बिना पाथेय लिये बड़े लंबे मार्ग की यात्रा पर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यन्त दुखी होता है।

६. और जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहाँ विविध प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित होकर अत्यंत दुखी होता है।

७. जो पथिक बड़े लंबे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से तनिक भी पीड़ित न होकर अत्यंत सुखी होता है।

८. और जो मनुष्य यहाँ, भलीभाँति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्पकर्मी तथा पीड़ा-रहित होकर अत्यंत सुखी होता है ।

९. जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर भी साफ़-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर विषम [ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़] मार्ग पर जाता है और गाड़ी की धुरी टूट जानेपर शोक करता है—

१०. उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी धर्म को छोड़कर, अधर्म को ग्रहण कर, अन्त में मृत्यु के मुँह में पड़कर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है ।

११. तीन बनिये कुछ पूँजी लेकर धन कमाने घर से निकले । उनमें से एक को लाभ हुआ; दूसरा अपनी मूल पूँजी ही ज्यों-की-त्यों बचा लाया—

१२. तीसरा अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँकर लौट आया । यह एक व्यावहारिक उपमा है; यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी विचार लेनी चाहिए—

१३. मनुष्यत्व मूल है—अर्थात् मनुष्य से मनुष्य बननेवाला, मूल पूँजी को बचानेवाला है । देवजन्म पाना, लाभ उठाना है । और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक् गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूल पूँजी को भी गवाँ देनेवाला मूर्ख है ।

१४. जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य अधर्म [पाप] करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल निष्फल जाते हैं ।

१५. जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात और दिन सफल हो जाते हैं।

१६. जबतक बुढ़ापा नहीं सताता, जबतक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नहीं होतीं, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए–बाद में कुछ नहीं होने का।

१७. हे राजन्! जब कभी इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर आप परलोक के यात्री बनेंगे, तब एकमात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं।

अहिंसा-सूत्र

१८. भगवान् महावीर ने अठारह धर्म-स्थानों में सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है।

सब जीवों पर सयम रखना अहिंसा है; वह सब सुखों की देनेवाली मानी गई है।

१९. संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सब को–क्या जान में, क्या अनजान में–न खुद मारे और न दूसरोंसे मरवाये।

२०. जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को ही बढ़ाता है।

२१. संसार में रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवों पर मन से, वचन से और शरीर से,-किसी भी तरह दण्ड का प्रयोग न करे ।

२२. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते हैं ।

२३. भय और वैर से निवृत्त साधक, जीवन के प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियों को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करे ।

२४. पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पतिकाय—ये सब जीव अतिसूक्ष्म हैं, ऊपर से एक आकार के दिखने पर भी सब का पृथक्-पृथक् अस्तित्व हैं।

२५. उक्त पाँच स्थावरकाय के अतिरिक्त दूसरे त्रस प्राणी भी हैं। ये छहों षड्जीवनिकाय कहलाते हैं। जितने भी संसार में जीव हैं, सब इन्हीं छह के अन्तर्गत हैं। इन के सिवाय और कोई जीव-निकाय नहीं हैं ।

२६. बुद्धिमान मनुष्य उक्त छहों जीव-निकायों का सब प्रकार की युक्तियों से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख से घबराते हैं'—ऐसा जानकर उन्हें दुःख न पहुँचाये ।

२७. ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिंसा का सिद्धांत ही सर्वोपरि है'—मात्र इतना ही विज्ञान है ।

२८. सम्यग् बोध को जिसने प्राप्त कर लिया ऐसा बुद्धिमान मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एवं महाभयंकर दुःखों को जानकर अपने को पापकर्म से बचाये।

२९. संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति-फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र-समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना-वास्तव में बड़ा ही दुष्कर है।

सत्य-सूत्र

३०. सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

३१. अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा भय से-किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचाने-वाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाये।

३२. मृषावाद [असत्य] संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है; इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

३३. अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक एवं मर्मभेदक वचन नहीं बोलना चाहिए।

३४. श्रेष्ठ साधू पापकारी, निश्चयकारी और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी पाप वचन नहीं बोलना चाहिए।

३५. आत्मार्थी साधक को दृष्ट [सत्य], परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए।

३६. भाषा के गुण तथा दोषों को भली भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवों पर संयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा बोले।

३७. श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनों से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्म का उपदेश करे। जो आचरण निन्द्य हों, निदानवाले हों, उनका कभी सेवन न करे।

३८. विचारवान मुनि को वचनशुद्धि का भली भाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है।

३९. काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, फिर भी ऐसा नहीं कहना चाहिए। [क्यों कि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।]

४०. जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य, किंतु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, जब कि वह भी पाप से अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या ?

४१. जो भाषा कठोर हो, दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली हो-वह सत्य भी क्यों न हो-नहीं बोलनी चाहिए। क्योंकि उससे पाप का आस्रव होता है।

अस्तेनक-सूत्र

४२-४३ सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य, और तो क्या, दाँत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्णसंयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते है, न दुसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं, और न ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन ही करते हैं।

४४. ऊँची, नीची, और तिरछी दिशा में जहाँ कहीं भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हों उन्हें अपने हाथों से, पैरों से - किसी भी अंग से पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए। और दूसरों की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

४५. जो मनुष्य अपने सुख के लिए त्रस तथा स्थावर प्राणियों की क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है-उन्हें अनेक तरह से कष्ट

पहुँचाता है, जो दूसरों की चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतों का कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयंकर क्लेश उठाता है)।

४६. दाँत कुरेदने की सींक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये चोरी से न लेना, (बड़ी चीज़ों को चोरी से लेने की तो बात ही क्या ?) निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है।

ब्रह्मचर्य-सूत्र

४७. काम-भोगों का रस जान लेनेवाले के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करना, बड़ा ही कठिन कार्य है।

४८. जो मुनि संयम-घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद-स्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

४९ यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषों का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

५०. आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन-सब तालपुट विष के समान महान् भयंकर हैं।

५१. श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम-चेष्टा और कटाक्ष आदि का मन में तनिक भी विचार न लाये, और न इन्हें देखने का कभी प्रयत्न करे।

५२. स्त्रियों को रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नहीं करने चाहिएँ। ब्रह्मचर्य व्रत में सदा रत रहने की इच्छा रखनेवाले पुरुषों के लिए यह नियम अत्यन्त हितकर है, और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

५३. ब्रह्मचर्य में अनुरक्त भिक्षु को मन में वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथा को छोड़ देना चाहिए।

५४. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों के साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

५५. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को न तो स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों की सुन्दर आकृति की ओर ध्यान देना चाहिए, और न आँखों में विकार पैदा करनेवाले हावभावों और स्नेह-भरे मीठे वचनों की ही ओर।

५६. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों का कूजन (बोलना), रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण क्रन्दन-जिनके सुनने पर विकार पैदा होते हैं—सुनना छोड़ देना चाहिए।

५७. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

५८. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टिकारी भोजनपान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

५९. ब्रह्मचर्य-रत स्थिरचित्त भिक्षु को संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए। कैसी ही भूख क्यों न लगी हो, लालसावश अधिकमात्रा मे कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए।

६०. जैसे बहुत ज्यादा ईंधनवाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नहीं होता।

६१. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शरीर की शोभा और टीप-टाप का कोई भी शृंगार सम्बन्धी काम नहीं करना चाहिए।

६२. ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द; रूप, गन्ध रस और स्पर्श-इन पाँच प्रकार के काम गुणों को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

६३. स्थिरचित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगों को हमेशा के लिए छोड़ दे। इतना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तनिक भी क्षति पहुँचने की संभवना हो, उन सब शंका-स्थानों का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।

६४. देवताओं-सहित समस्त संसार के दुःख का मूल एकमात्र काम भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

६५. जो मनुष्य इस भाँति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब नमस्कार करते हैं।

६६. यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

अपरिग्रह-सूत्र

६७. प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का-आसक्ति का रखना बतलाया है।

६८. पूर्णसंयमी को धन धान्य और नौकर चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पापकर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

६९. जो संयमी ज्ञातपुत्र [भगवान् महावीर] के प्रवचनों में रत हैं, वे बिड़ और उद्भेद आदि नमक तथा तेल, घी,

गुड़ आदि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन में संकल्प तक नहीं लाते।

७०. परिग्रह विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एकमात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते है -काम लाते है। [इनके रखने मे किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।]

७१. ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

७२. संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है-साधु नहीं है।

अरात्रि-भोजन-सूत्र

७३. सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

७४. संसार मे बहुत से त्रस और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं-वे रात्रि में देखें नहीं जा सकते। तो रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है?

७५. जमीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते हैं, और कहींपर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े आदि जीव होते हैं।

दिन में तो उन्हें देख-भालकर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि में उनको बचाकर भोजन कैसे किया जा सकता है ?

७६. इस भाँति सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निर्ग्रन्थ मुनि, रात्रि मे किसी भी प्रकार का भोजन न करें।

७७. अन्न आदि चारो ही प्रकार के आहार का रात्रि मे सेवन नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य सामग्री का संग्रह करना निषिद्ध है। अत: अरात्रि भोजन वास्तव मे बड़ा दुष्कर है।

७८. हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन-जो जीव इनसे विरत [पृथक्] रहता है, वह 'अनास्रव' [आत्मा में पापकर्म के प्रविष्ट होने के द्वार आस्रव कहलाते हैं, उनसे रहित, अनास्रव] हो जाता है।

विनय-सूत्र

७९. वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओं से दूसरी छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती हैं। छोटी शाखाओ से पत्ते पैदा होते हैं। इसके बाद क्रमश: फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

८०. इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति संपादन करता है। अन्त में, निश्रेयस [मोक्ष] भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है।

८१. इन पाँच कारणों से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता :—

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से, और आलस्य से।

८२-८३ इन आठ कारणो से मनुष्य शिक्षाशील कहलाता है—

हर समय हँसनेवाला न हो; सतत इन्द्रिय-निग्रही हो; दूसरों के मर्म को भेदन करनेवाले वचन न बोलता हो; सुशील हो; दुराचारी न हो; रसलोलुप न हो; सत्य में रत हो; क्रोधी न हो—शान्त हो।

८४. जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितो तथा आकारो को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

८५-८८ नीचे के पन्द्रह कारणों से बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहलाता है —

उद्धत न हो-नम्र हो; चपल न हो-स्थिर हो; मायावी न हो-सरल हो; कुतहली न हो-गभीर हो; किसीका तिरस्कार न करता हो; क्रोध को अधिक समय तक न रखता हो-शीघ्र ही शान्त हो जाता हो; अपने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालो के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो; शास्त्रों के अध्ययन का गर्व न करता हो; किसीके दोषों का भंडाफोड़ न करता हो; मित्रो पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही करता हो; किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो; बुद्धिमान हो; अभिजात अर्थात् कुलीन हो; लज्जाशील हो; एकाग्र हो।

८९. जो गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, जो उनके पास नहीं रहता, जो उनसे शत्रुता का बर्ताव रखता है, जो विवेकशून्य है, उसे अविनीत कहते हैं।

९०-९२. जो बार-बार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नहीं होता; जो मित्रता रखनेवालों का भी तिरस्कार करता है; जो शास्त्र पढ़कर गर्व करता है; जो दूसरों के दोषों को ही उखेड़ता रहता है; जो अपने मित्रों पर भी क्रुद्ध हो जाता है; जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है; जो मनमाना बोल उठता है-बकवादी है: जो स्नेही जनों से भी द्रोह रखता है; जो अहंकारी है; जो लोभी है, जो इन्द्रियनिग्रही नहीं, जो सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है।

९३. शिष्य का कर्त्तव्य है कि जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे उसकी निरन्तर विनय-भक्ति करे। मस्तक पर अंजलि चढ़ाकर गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करे। जिस तरह भी हो सके उसी तरह मन से, वचन से और शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे।

९४. जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु की विनय [भक्ति] नहीं करता; वह इससे अभूति अर्थात पतन को प्राप्त होता है। जैसे बाँस का फल उसके ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञानबल भी उसीका सर्वनाश करता है।

९५. 'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति'- ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

चतुरङ्गीय-सूत्र

९६. संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अङ्गों (जीवन-विकास के साधन) का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है—
मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

९७. संसार की मोह-माया में फँसी हुई मूर्ख प्रजा अनेक प्रकार के पापकर्म करके अनेक गोत्रोंवाली जातियों में जन्म लेती है। सारा विश्व इन जातियों से भरा हुआ है।

९८. जीव कभी देवलोक में, कभी नरकलोक में, और कभी असुरलोक में जाता है। जैसे भी कर्म होते हैं, वहीं पहुँच जाता है।

९९. कभी तो वह क्षत्रिय होता है और कभी चाण्डाल, कभी वर्णसंकर-बुक्कस, कभी कीड़ा, कभी पतंग, कभी कुंथुआ, तो कभी चींटी होता है।

१००. पापकर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा बदलती रहनेवाली योनियों में बारंबार पैदा होते रहते हैं; किंतु इस दुःखपूर्ण संसार से कभी खिन्न नहीं होते जैसे दुःख पूर्ण राज्य से क्षत्रिय।

१०१. जो प्राणी काम वासनाओं से विमूढ़ हैं, वे भयंकर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियों में भटकते रहते हैं।

१०२. संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पापकर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त होता है; तब कहीं मनुष्य-जन्म मिलता है।

१०३. मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

१०४. सौभाग्य से यदि कभी धर्म का श्रवण प्राप्त भी हो जाता है, तो उस पर श्रद्धा का होना तो अत्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत से लोग न्यायमार्ग को-सत्य-सिद्धांत को सुनकर भी उससे दूर ही रहते हैं—उसपर विश्वास नहीं लाते।

१०५. सद्धर्म का श्रवण और उसपर श्रद्धा-दोनों प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना, यह तो और भी कठिन है। क्योंकि संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं, जो सद्धर्म पर दृढ़ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण में नहीं लाते।

१०६. परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रवरहित हो जाता है, वह अन्तरात्मा पर से कर्मरज को झटक देता है।

१०७. जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसीके पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

१०८. कर्मों के पैदा करनेवाले कारणों को ढूँढ़ो उनका छेद करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वदिशा को प्राप्त करता है-अर्थात् उच्च और श्रेष्ठगति पाता है।

१०९. जो मनुष्य उक्त चार अंगों को दुर्लभ जानकर संयम—मार्ग स्वीकार करता है वह तप द्वारा सब कर्मांशों का नाश कर सदा के लिए सिद्ध हो जाता है।

अप्रमाद-सूत्र

११०. जीवन असंस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ता; अतः एक क्षण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिंसा और असंयम में अमूल्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा—तब किसकी शरण लोगे ?' यह खूब सोच-विचार करो।

१११. जो मनुष्य अनेक पापकर्म कर, वैर-विरोध बढ़ाकर, अमृत की तरह धन का संग्रह करते हैं, वे अन्त में कर्मों के दृढ़ पाश में बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड़कर नरक को प्राप्त होते हैं।

११२. प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ! फिर भी धन के असीम मोह से मूढ़ मनुष्य दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नहीं दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख पाता है।

११३. जैसे चोर सेंध के द्वार पर पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक में —तथा परलोक में दोनों ही जगह—भयंकर दुःख पाता है। क्योंकि कृत कर्मों को भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

११४. संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे भी पाप-कर्म कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला-सहायता पहुँचानेवाला नहीं होता।

११५. आशुप्रज्ञ पंडित पुरुष को मोहनिद्रा में सोते रहनेवाले संसारी मनुष्यों के बीच रहकर भी सब ओर से जागरूक रहना चाहिए, किसीका विश्वास नहीं करना चाहिए।

'काल निर्दय है और शरीर निर्बल' यह जानकर भारंड पक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए।

११६. संसार में जो कुछ धन जन आदि पदार्थ हैं, उन सबको पाशरूप जानकर मुमुक्षु बड़ी सावधानी के साथ फूँक-फूँककर पाँव रखे। जबतक शरीर सशक्त है, तबतक उसका उपयोग अधिक-से-अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद में जब वह बिल्कुल ही अशक्त हो जाये, तब बिना किसी मोह-ममता के मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

११७. जैसे शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्षु भी जीवन-संग्राम में विजयी बनकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्तरूप से संयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष-पद पाता है।

११८. शाश्वतवादी लोग कल्पना बाँधा करते हैं कि 'सत्कर्म-साधना की अभी क्या जल्दी है, आगे कर लेंगे?' परन्तु यों करते-करते भोग-विलास में ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, और एक दिन मृत्यु सामने आ खड़ी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। अन्तिम समय में कुछ भी नहीं बन पाता; उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य में केवल पछताना ही शेष रहता है।

११९. आत्म-विवेक कुछ झटपट प्राप्त नहीं किया जाता-इसके लिए तो भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता के साथ खड़े होकर काम-भोगों का परित्याग कर, समतापूर्वक स्वार्थी संसार की वास्तविकता को समझकर, अपनी आत्मा की पापों से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचरना चाहिए।

१२०. मोह-गुणों के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करनेवाले श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पड़ता है। परन्तु भिक्षु उनपर तनिक भी अपने मन को क्षुब्ध न करे-शान्त भाव से अपने लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होता रहे।

१२१. संयम-जीवन में मन्दता पैदा करनेवाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते हैं। परंतु संयमी पुरुष उनकी ओर अपने मन को कभी आकृष्ट न होने दे। आत्मशोधक साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध को दबाए, अहंकार को दूर करे, माया का सेवन न करे, और लोभ को छोड़ दे।

१२२. जो मनुष्य संस्कारहीन हैं, तुच्छ हैं, दूसरों की निन्दा करनेवाले हैं, राग-द्वेष से युक्त हैं, वे सब अधर्माचरणवाले हैं—इस प्रकार विचारपूर्वक दुर्गुणों से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त [जीवन-पर्यन्त] एकमात्र सद्गुणों की ही कामना करता रहे।

अप्रमाद-सूत्र (२)

१२३. जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड़ ऋतुकालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१२४. जैसे ओस की बूँद कुशा की नोक पर थोड़ी देरतक ही ठहरी रहती है, उसी तरह मनुष्यों का जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नाश हो जानेवाला है। इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१२५. अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त अत्यन्त अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्व संचित कर्मों की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसके लिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१२६. दीर्घकाल के बाद भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि कृत कर्मों के विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ होते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१२७. यह जीव पृथिवि-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१२८. यह जीव जल-काल में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१२९. यह जीव तेजस्काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३०. यह जीव वायु--काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३१. यह जीव वनस्पति--काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट अनन्त काल तक-जिसका बड़ी कठिनता से अन्त होता है-रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३२. यह जीव द्वीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्येय काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३३. यह जीवन त्रीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३४. यह जीव चतुरिन्द्रिय--काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३५. यह जीव पंचेन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सात तथा आठ जन्मतक निरन्तर रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३६. प्रमाद--बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण इस भाँति अनन्त बार भव--चक्र में इधर से उधर घूमा करता है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३७. मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या? आर्यत्व का मिलना बड़ा कठिन है। बहुत-से-जीव मनुष्यत्व पाकर भी दस्यु

और म्लेच्छ जातियों में जन्म लेते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३८. आर्यत्व पाकर भी पाँचों इन्द्रियों को परिपूर्ण पाना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग आर्य-क्षेत्र में जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियोंवाले देखे जाते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१३९. पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त होना कठिन है। बहुत से लोग पाखंडी गुरुओं की सेवा किया करते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४०. उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उसपर श्रद्धा का होना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग सब कुछ जान बूझकर भी मिथ्यात्व की उपासना में ही लगे रहते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४१. धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बड़ा कठिन है। संसार में बहुत-से धर्मश्रद्धालु मनुष्य भी काम-भोगों में मूर्छित रहते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४२. तेरा शरीर दिन प्रति दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के बाल पककर श्वेत होने लगे हैं; अधिक क्या-शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का बल घटता जा रहा है। हे गौतम क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४३. अरुचि, फोड़ा, विसूचिका [हैजा], आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर में बढ़ते जा रहे हैं; इनके कारण तेरा शरीर बिल्कुल क्षीण तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४४. जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता--अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों से रहित हो जा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४५. स्त्री और धन का परित्याग करके तू महान् अनागार पद को पा चुका है, इसलिए अब फिर इन वमन की हुई वस्तुओं का पान न कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४६. विपुल धनराशि तथा मित्र बान्धवों को एकबार स्वेच्छा-पूर्वक छोड़कर, अब फिर दोबारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४७. घुमावदार विषम मार्ग को छोड़कर तू सीधे और साफ़ मार्ग पर चल। विषम मार्ग पर चलनेवाले निर्बल भार-वाहक की तरह बाद में पछतानेवाला न बन। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४८. तू विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है, अब भला किनारे आकर क्यों अटक रहा है ? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

१४९. भगवान् महावीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोंवाले सुभाषित वचनों को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर सिद्धि-गति को प्राप्त हो गये।

प्रमाद-स्थान-सूत्र

१५०. प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म; अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं वे कर्म-बन्धन करनेवाली हैं, और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित हैं वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

१५१. जिस प्रकार बगुली अंडे से पैदा होती है और अंडा बगुली से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति स्थान मोह है।

१५२. राग और द्वेष-दोनों कर्म के बीज हैं-अतः कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्मसिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते हैं कि संसार में जन्म-मरण का मूल कर्म है, और जन्म-मरण-यही एकमात्र दुःख है।

१५३. जिसे मोह नहीं है उसका दुःख चला गया; जिसे तृष्णा नहीं उसका मोह चला गया; जिसे लोभ नहीं है, उसकी तृष्णा चली गई; जिसके पास लोभ करने-जैसा कुछ भी पदार्थ-संग्रह नहीं है, उसका लोभ चला गया।

१५४. दूध और दही आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि प्रायः रस मनुष्यों में मादकता पैदा करते हैं। मत्त मनुष्य की ओर काम वासनाएँ वैसे ही दौड़ी आती हैं जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की ओर पक्षी।

१५५. जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूप-दर्शन की लालसा में वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दीये की ज्योति देखने की लालसा में पतंग।

१५६. रूप में आसक्त मनुष्य को कहीं से भी कभी किंचिन्मात्र भी सुख नहीं मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग में कुछ भी सुख न पाकर केवल क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

१५७. जो मनुष्य कुत्सित रूपों के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य में असीम दुःख-परंपरा का भागी होता है। प्रदुष्ट-चित्त द्वारा ऐसे पापकर्म संचित किये जाते हैं, जो विपाक--काल में भयंकर दुःख रूप होते हैं।

१५८. रूप से विरक्त मनुष्य ही वास्तव में शोक-रहित है। वह संसार में रहते हुए भी दुःख-प्रवाह से वैसे ही अलिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

१५९. रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियों तथा मन के विषय-भोग इस प्रकार दुःख के कारण होते हैं। परन्तु वे

ही वीतरागी को किसी भी प्रकार से कभी तनिक भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

१६०. काम-भोग अपने-आप तो न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में रागद्वेषरूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

१६१. अनादि काल से उत्पन्न होते रहनेवाले सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छूट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे क्रमशः मोक्ष-धाम प्राप्त कर अत्यन्त सुखी होते हैं।

कषाय-सूत्र

१६२. अनिगृहीत क्रोध और मान, तथा प्रवर्द्धमान { बढ़ते हुए } माया और लोभ-ये चारों ही कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी संसारवृक्ष की जड़ों को सींचते हैं।

१६३. जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार दोषों को सदा के लिए छोड़ दे।

१६४. क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया मित्रता का नाश करती है; और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

१६५. शान्ति से क्रोध को मारे; नम्रता से अभिमान को जीते; सरलता से माया का नाश करे; और सन्तोष से लोभ को काबू में लाये।

१६६. अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाये, तब भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। अहो! मनुष्य की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर है।

१६७. ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। देखो न, पहले केवल दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी; पर बाद में वह करोड़ों से भी पूरी न हो सकी।

१६८. क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति को पहुँचता है, माया से सद्गति का नाश होता है, और लोभ से इस लोक तथा परलोक में महान् भय है।

१६९. चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों, तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे कुछ भी नहीं। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

१७०. चावल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है—यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

१७१. क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्ण रूप से परित्याग करनेवाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं, और न दूसरों से करवाते हैं।

काम-सूत्र

१७२. काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं, और विषधर सर्प के समान हैं। काम-भोगों की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

१७३. गीत सब विलापरूप हैं; नाट्य सब विडम्बनारूप हैं; आभरण सब भाररूप हैं। अधिक क्या, संसार के जो भी काम-भोग हैं, सब-के-सब दुःखावह हैं।

१७४. काम-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और चिरकाल तक दुःख देनेवाले हैं। उनमें सुख बहुत थोड़ा है, अत्यधिक दुःख-ही-दुःख हैं। मोक्ष-सुख के ये भयंकर शत्रु हैं, अनर्थों की खान हैं।

१७५. जैसे किंपाक फलों का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

१७६. जैसे किंपाक फल रूप, रंग और रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय तो बड़े अच्छे मालूम होते हैं, पर बाद में जीवन के नाशक हैं; वैसे ही काम-भोग भी शुरू में तो बड़े मनोहर लगते हैं, पर विपाक-काल में सर्वनाश कर देते हैं।

१७७. जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण किया करता है, और अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

१७८. मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका [बौद्ध भिक्षुओं का सा उत्तरीय वस्त्र], और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिह्न दुःशील भिक्षु की रक्षा नहीं कर सकते।

१७९. जो अविवेकी मनुष्य मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण तथा रूप में आसक्त रहते हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

१८०. काल बड़ी द्रुति गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सभी रात्रियाँ बीतती जा रही हैं, फल-स्वरूप काम-भोग चिरस्थायी नहीं हैं। भोग-विलास के साधनों से रहित पुरुष को लोग वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीणफल वृक्ष को पक्षी।

१८१. मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी अपनी आयु तो बहुत ही परिमित है, एकमात्र मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए।

१८२. हे पुरुष! मनुष्यों का जीवन अत्यन्त अल्प है—क्षणभंगुर है, अतः शीघ्र ही पापकर्मों से निवृत्त हो जा। संसार में आसक्त तथा काम-भोगों से मूर्च्छित असंयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

१८३. समझो, इतना क्यों नहीं समझते ? परलोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नहीं आतीं। मनुष्य-जीवन का दोबारा पाना आसान नहीं।

१८४. काम-भोग बड़ी मुश्किल से छूटते हैं, अधीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नहीं सकते। परन्तु जो महाव्रतों-जैसे सुन्दर व्रतों के पालन करनेवाले साधुपुरुष हैं, वे ही दुस्तर भोग-समुद्र को तैरकर पार होते हैं, जैसे-व्यापारी बणिक समुद्र को।

अशरण-सूत्र

१८५. मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि-'ये मेरे है' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण का देनेवाला नहीं।

१८६. जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापा) का दुःख है, रोग और मरण का दुःख है। अहो ! संसार दुःखरूप ही है ! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

१८७. यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, दुःख और क्लेशों का धाम है। जीवात्मा का इसमें कुछ ही

क्षणों के लिए निवास है, आखिर एक दिन तो अचानक छोड़कर चले ही जाना है।

१८८. स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब कोई जीते जी के ही साथी है, मरने पर कोई भी पीछे नहीं आता।

१८९. पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते; जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ही ले जाते हैं; तथा स्त्री और पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में कौन विवेकी पुरुष इन्हें स्वीकार करेगा?

१९०. द्विपद (दास, दासी आदि मनुष्य), चतुष्पद, क्षेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोड़कर विवशता की दशा में प्राणी अपने कृत कर्मों के साथ अच्छे या बुरे परभव में चला जाता है।

१९१. जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते-परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

१९२. संसार मे जितने भी प्राणी हैं वे सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका फल भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

१९३. यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, पहले या पीछे एक दिन इसे छोड़ना ही है, अतः इसके प्रति मुझे तनिक भी प्रीति (आसक्ति) नहीं है।

१९४. मानव-शरीर असार है, आधि-व्याधियों का घर है; जरा और मरण से ग्रस्त है; अतः मैं इसकी ओर से क्षणभर भी प्रसन्न नहीं होता हूँ।

१९५. मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है! आश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो! क्यों नहीं परलोक की ओर का खयाल करते हो?

१९६. पापी जीव के दुःख को न जातिवाले बटा सकते हैं, न मित्र वर्ग, न पुत्र, और न भाई-बन्धु। जब कभी दुःख आकर पड़ता है, तब वह स्वयं अकेला ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसीके नहीं।

बाल-सूत्र

१९७. जो बाल— मूर्ख मनुष्य काम—भोगों के मोहक दोषों में आसक्त हैं, हित तथा निःश्रेयस के विचार से शून्य हैं, वे मन्दबुद्धि मूढ़ संसार में वैसे ही फँस जाते हैं, जैसे मक्खी श्लेष्म [कफ] में।

१९८. जो मनुष्य काम—भोगों में आसक्त होते हैं, वे बुरे-से—बुरे पाप-कर्म कर डालते हैं। ऐसे लोगों की मान्यता होती है कि— "परलोक हमने देखा नहीं है, और यह विद्यमान काम—भोगों का आनन्द तो प्रत्यक्ष—सिद्ध है।"

१९९. "वर्तमान काल के काम-भोग हाथ में आये हुए हैं--पूर्णतया स्वाधीन हैं। भविष्यकाल में परलोक के सुखों का क्या ठीक---मिलें या न मिलें? और यह भी कौन जानता है कि, परलोक है भी या नहीं?"

२००. "मैं तो सामान्य लोगों के साथ रहूँगा---अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायेगी" मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टता-भरी बातें किया करते हैं और काम-भोगों की आसक्ति के कारण अन्त में महान् क्लेश पाते हैं।

२०१. मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवों को सताना शुरू कर देता है, और अन्ततक मतलब-बेमतलब प्राणिसमूह की हिंसा करता ही रहता है।

२०२. मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्यभाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मांस तथा मद्य के खाने-पीने में ही अपना श्रेय समझता है।

२०३. जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बल पर मदान्ध है, धन तथा स्त्री जन में आसक्त है, वह राग और द्वेष दोनों के द्वारा वैसे ही कर्ममल का संचय करता है, जैसे अलसिया मिट्टी का।

२०४. पाप-कर्मों के फलस्वरूप जब मनुष्य अन्तिम समय में असाध्य रोगों से पीड़ित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर अन्दर-ही अन्दर पछताता है, और अपने पूर्वकृत पाप-कर्मों

को याद कर-कर परलोक की विभीषिका से काँप उठता है ।

२०५. जो मूर्ख मनुष्य अपने तुच्छ जीवन के लिए निर्दय होकर पापकर्म करते हैं, वे महाभयंकर प्रगाढ़ अन्धकाराच्छन्न एवं तीव्र तापवाले तमिस्र नरक में जाकर पड़ते हैं ।

२०६. अनार्य मनुष्य काम भोगों के लिए जब धर्म को छोड़ता है, तब वह भोग-विलास में मूर्च्छित रहनेवाला मूर्ख अपने भयंकर भविष्य को नहीं जानता ।

२०७. जिस तरह हमेशा भयभ्रान्त रहनेवाला चोर अपने ही दुष्कर्मों के कारण दुःख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अपने दुराचरणों के कारण दुःख पाता है, और वह अंतकाल में भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकता ।

२०८. जो भिक्षु प्रव्रज्या लेकर भी अत्यन्त निद्राशील हो जाता है, खा-पीकर मजे से सो जाया करता है, वह 'पाप-श्रमण' कहलाता है ।

२०९. वैर रखनेवाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, वह वैर में ही आनन्द पाता है । हिंसाकर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्त में दुःख पहुँचानेवाले हैं ।

२१०. यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेभर का घोर तप करे और पारण के दिन केवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्म का आचरण करनेवाले मनुष्य के सोलहवें हिस्से को भी नहीं पहुँच सकता ।

२११. जो मनुष्य अपने जीवन को अनियंत्रित (उच्छृङ्खल) रखने के कारण यहाँ समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे काम-भोगों में आसक्त होकर अन्त में असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं।

२१२. संसार में जितने भी अविद्वान् [मूर्ख] पुरुष हैं, वे सब दुःख भोगनेवाले हैं। मूढ़ प्राणी अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते रहते हैं — जन्मते और मरते रहते हैं।

२१३. मूर्ख जीवों का अकाम मरण संसार मे बार-बार हुआ करता है; परन्तु पंडित पुरुषों का सकाम मरण केवल एक बार ही होता है — वे पुनर्जन्म नहीं पाते।

२१४. मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म को छोड़कर, अधर्म को स्वीकार कर अधर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में नरक-गति को प्राप्त होता है।

२१५. सत्य-धर्म के अनुगामी धीर पुरुष की धीरता देखो, जो अधर्म का परित्याग कर धर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त मे देवलोक में उत्पन्न होता है।

२१६. विद्वान् मुनि, बाल-भाव और अबाल-भाव का इस प्रकार तुलनात्मक विचार कर बाल-भाव को छोड़ दे, और अबाल-भाव को ही स्वीकार करे।

पण्डित-सूत्र

२१७. पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह संसार-भ्रमण के कारण-रूप दुष्कर्म-पाशों का भली भाँति विचार कर अपने-आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करे, और सब जीवों पर मैत्री-भाव रखे।

२१८. जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

२१९. जो मनुष्य किसी परतंत्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

२२०. जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा में सोते रहनेवाले मनुष्यों के बीच रहकर संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान् विश्व को अशाश्वत जानें, सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहे वही मोक्षगति का सच्चा अधिकारी है।

२२१. जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खानेवाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व--भाव नहीं है।

२२२. जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपनें अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन भी

विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़कर रखे।

२२३. जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देनेवाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

२२४. सब प्रकार ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

२२५. सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निश्रेयस का मार्ग है।

२२६. समाधि की इच्छा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी साथी की खोज करे, और ध्यान करनेयोग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

२२७. यदि अपने से गुणों में अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मों का परित्याग कर तथा काम-भोगों में सर्वथा अनासक्त रहकर अकेला ही विचरे। परन्तु दुराचारी का कभी भूलकर भी संग न करे।

२२८. संसार में जन्म-मरण के महान् दुःखों को देखकर और यह अच्छी तरह जानकर कि—'सब जीव सुख की इच्छा

रखनेवाले हैं ' अहिंसा को मोक्ष का मार्ग समझकर सम्यक्त्व-धारी विद्वान् कभी भी पाप-कर्म नहीं करते।

२२९. मूर्ख साधक कितना ही क्यों न प्रयत्न करें, किंतु पाप--कर्मों से पाप कर्मों को कदापि नष्ट नहीं कर सकते। बुद्धिमान् साधक वे हैं, जो पाप-कर्मों के परित्याग से पाप-कर्मों को नष्ट करते हैं। अतएव लोभ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नहीं करते।

आत्म-सूत्र

२३०. अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। और अपनी आत्मा ही स्वर्ग की काम--दुधा धेनु तथा नन्दनवन है

२३१. आत्मा ही अपने दु:खों और सुखों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना शत्रु है।

२३२. अपने-आपको ही दमन करना चाहिए। वास्तव में अपने-आपको दमन करना ही कठिन है। अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक में सुखी होता है।

२३३. दूसरे लोग मेरा वध बन्धनादि से दमन करें, इसकी अपेक्षा तो मैं संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना [आत्मा का] दमन करूँ, यह अच्छा है ।

२३४. जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एकमात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है ।

२३५. अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है ।

२३६. पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए । एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है ।

२३७. सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है । दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणो का पहले ध्यान नहीं आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है ।

२३८. जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता;' उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे – भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को ।

२३९. समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापों से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है, और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

२४०. शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

२४१. जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पांच महाव्रतों का अच्छी तरह पालन नहीं करता, अपने-आपको निग्रह में नहीं रखता, काम-भोगों के रस में आसक्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नहीं काट सकता।

लोकतत्त्व-सूत्र

२४२. धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव-ये छः द्रव्य हैं। केवलदर्शन के धर्त्ता जिन भगवानों ने इन सबको लोक कहा है।

२४३. धर्मद्रव्य का लक्षण गति है; अधर्म का लक्षण स्थिति है; सब पदार्थों को अवकाश देना—आकाश का लक्षण है।

२४४. काल का लक्षण वर्तना है, और उपयोग जीव का लक्षण है। जीवात्मा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से तथा दुःख से जाना-पहचाना जाता है।

२४५. अतएव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण है।

२४६. शब्द, अन्धकार, उजेला, प्रभा, छाया, आतप [धूप], वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये सब पुद्गल के लक्षण है।

२४७. जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष —ये नव सत्य-तत्त्व हैं।

२४८. जीवादिक सत्य पदार्थों के अस्तित्व के विषय मे सद्गुरु के उपदेश से, अथवा स्वयं ही अपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है।

२४९. मुमुक्षु आत्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग वासनाओं का निग्रह करता है, और तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है।

२५०. ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप – इस चतुष्टय अध्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुक्षु जीव मोक्षरूप सद्गति को पाते हैं।

२५१. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इस भाँति ज्ञान पाँच प्रकार का है।

२५२-२५३. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म बतलाये हैं।

२५४. तप दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और अभ्यन्तर। बाह्य तप छः प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छः ही प्रकार का है।

२५५. अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, काय-क्लेश और संलेखना—ये बाह्य तप हैं।

२५६. प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप हैं।

२५७. कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल—ये लेश्याओं के क्रमशः छः नाम हैं।

२५८. कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से युक्त जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

२५९. तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएँ है। इन तीनों से युक्त जीव सद्गति में उत्पन्न होता है।

२६०. पाँच समिति और तीन गुप्ति—इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएँ कहलाती है।

२६१. ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, और उच्चार—ये पाँच समितियाँ हैं। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और काय-गुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ है। इस प्रकार दोनों मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं।

२६२. पाँच समितियाँ चारित्र्य की दया आदि प्रवृत्तियों में काम आती हैं, और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार के अशुभ व्यापारों से निवृत्त होने में सहायक होती हैं।

२६३. जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओं का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल संसार मे सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।

पूज्य-सूत्र

२६४. जो आचार-प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो भक्तिपूर्वक गुरु-वचनों को सुन एवं स्वीकृत कर कहने के अनुसार कार्य को पूरा करता है, जो गुरु कभी अशातना नहीं करता, वही पूज्य है ।

२६५. जो केवल संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अपरिचित-भाव से दोष-रहित भिक्षावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर कभी खिन्न नहीं होता और मिल जाने पर कभी प्रसन्न नहीं होता, वही पूज्य है ।

२६६. जो संस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि का अधिक लाभ होने पर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा ही ग्रहण करता है, सन्तोष की प्रधानता में रत होकर अपने-आपको सदा सन्तुष्ट बनाये रखता है, वही पूज्य है ।

२६७. संसार में लोभी मनुष्य के द्वारा किसी विशेष आशा की पूर्ति के लिए लोह-कंटक भी सहन कर लिए जाते हैं, परन्तु जो बिना किसी आशा-तृष्णा के कानों में तीर के समान चुभनेवाले दुर्वचनरूपी कंटकों को सहन करता है, वही पूज्य है ।

२६८. विरोधियों की ओर से पड़नेवाली दुर्वचन की चोटें कानों मे पहुँचकर बड़ी मर्मान्तक पीड़ा पैदा करती हैं; परन्तु जो क्षमाशूर जितेन्द्रिय पुरुष उन चोटों को अपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पूज्य है।

२६९. जो परोक्ष में किसीकी निन्दा नहीं करता, प्रत्यक्ष मे भी कलह-वर्द्धक अंट-संट बातें नहीं बकता, दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाली एवं निश्चयकारी भाषा भी कभी नहीं बोलता, वही पूज्य है।

२७०. जो रसलोलुप नहीं है, इन्द्रजाली [जादू-टोना करनेवाला] नहीं है, मायावी नहीं है, चुगलखोर नहीं है, दीन नहीं हैं, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं रखता, स्वयं भी अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करता, खेल तमाशा आदि देखने का भी शौकीन नहीं, वही पूज्य है।

२७१. गुणो से साधु होता है और अगुणो से असाधु, अतः हे मुमुक्षु ! सद्गुणों को ग्रहण कर और दुर्गुणों को छोड़। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनो में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

२७२. जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, और गृहस्थ आदि किसीका भी अपमान तथा तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध

और अभिमान का पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

२७३. जो बुद्धिमान मुनि सद्गुण-सिन्धु गुरुजनों के सुभाषित को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतों में रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, और चार कषायों से, दूर रहता है, वही पूज्य है।

ब्राह्मण-सूत्र

२७४. जो आनेवाले स्नेही जनों में आसक्ति नहीं रखता, जो जाता हुआ शोक नहीं करता, जो आर्य-प्रवचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे, हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७५. जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७६. जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इन्द्रिय-निग्रही है, उग्र तपःसाधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण (आत्मशान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७७. जो स्थावर, जंगम सभी प्राणियों को भलीभाँति जानकर उनकी तीनों ही प्रकार[1] से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

[1] मन, वाणी और शरीर से; अथवा करने, कराने और अनुमोदन से।

२७८. जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से—किसी भी मलिन संकल्प से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७९. जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ—भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा,—मालिक के सहर्ष दिये बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२८०. जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

२८१. जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२८२. जो अलोलुप है, जो अनासक्त जीवी है, जो अनागार (बिना घरबार का) है जो अकिंचन है, जो गृहस्थों से अलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२८३. जो स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धों को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनों को एक बार त्याग देने के बाद फिर उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता, दोबारा काम-भोगों में नहीं फँसता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२८४. सिर मूँडा लेनेमात्र से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जाप कर लेनेमात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता; निर्जन वन में रहनेमात्र से कोई मुनि नहीं होता; और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेनेमात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

२८५. समता से श्रमण होता है; ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है; ज्ञान से मुनि होता है; और तप से तपस्वी बना जाता है।

२८६. मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है; कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र भी अपने कृत कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नहीं होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँचा नीचा हो जाता है।)

२८७. इस भाँति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम [श्रेष्ठ ब्राह्मण] हैं, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ हैं।

भिक्षु-सूत्र

२८८. जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के प्रवचनों पर श्रद्धा रखकर छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का संवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है।

२८९. जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ—चार कषायों का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर दृढ़-विश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, जो गृहस्थों के साथ कोई भी सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वही भिक्षु है।

२९०. जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं है; जो ज्ञान, तप और संयम का दृढ़ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है।

२९१. जो कलहकारी वचन नहीं कहता, जो क्रोध नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचंचल हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी [सर्वथा तल्लीन] रहता है, जो संकट आने पर व्याकुल नहीं होता, जो कभी योग्य कर्त्तव्य का अनादर नहीं करता, वही भिक्षु है।

२९२. जो कान में काँटे के समान चुभनेवाले आक्रोश वचनों को प्रहारों को, तथा अयोग्य उपालंभों को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जनावाले स्थानों में भी निर्भय रहता है, जो सुख-दुःख दोनों को एकसमान समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है।

२९३. जो शरीर से परीषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को

महाभयंकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, वही भिक्षु है।

२९४ जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है, जो सदा अध्यात्म-चिंतन में रत रहता है, जो अपने-आपको भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ का पूरा जाननेवाला है, वही भिक्षु है।

२९५. जो अपने संयम-साधक उपकरणों तक में भी मूर्च्छा [आसक्ति] नहीं रखता, जो लालची नहीं है, जो अज्ञात परिवारों के यहाँ से भिक्षा माँगता है, जो संयम पथ में बाधक होनेवाले दोषों से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और संग्रह करने के गृहस्थोचित धंधों के फेर में नहीं पड़ता, जो सब प्रकार से निःसंग रहता है, वही भिक्षु है।

२९६. जो मुनि अलोलुप है, जो रसों में अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता है, जो जीवन की चिन्ता नहीं करता जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह भी छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिक्षु है।

२९७. जो दूसरों को 'यह दुराचारी है' ऐसा नहीं कहता जो कटु वचन—जिससे सुननेवाला क्षुब्ध—नहीं बोलता, 'सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं'—ऐसा जानकर जो दूसरों की निन्द्य चेष्टाओं पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिंता करता है,

जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वही भिक्षु है ।

२९८. जो जाति का अभिमान नहीं करता, जो रूप का अभिमान नहीं करता, जो लाभ का अभिमान नहीं करता, जो श्रुत [पांडित्य] का अभिमान नहीं करता, जो सभी प्रकार के अभिमानों का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में ही रत रहता है, वही भिक्षु है ।

२९९. जो महामुनि आर्यपद [सद्धर्म] का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है, जो घरगृहस्थी के प्रपंच से निकलकर सदा के लिए कुशील लिंग [निन्द्य वेश] को छोड़ देता है, जो किसी के साथ हँसी ठट्ठा भी नहीं करता, वही भिक्षु है ।

३००. इस भाँति अपने को सदैव कल्याण पथ पर खड़ा रखने-वाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभंगुर शरीर में निवास करना हमेशा के लिए छोड़ देता है; जन्म-मरण के बन्धनों को सर्वथा काटकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ।

मोक्षमार्ग-सूत्र

३०१. भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा है ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो ।

२०२. आयुष्मन् ! विवेक से चले; विवेक से खड़ा हो; विवेक से बैठे; विवेक से सोये; विवेक से भोजन करे; और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नहीं बाँध सकता ।

२०३. जो सब जीवों को अपने ही समान समझता है, अपने, पराये, सबको समान दृष्टि से देखता है, जिसने सब आस्रवों का निरोध कर लिया है, जो चंचल इन्द्रियों का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता ।

२०४. प्रथम ज्ञान है, पीछे दया । इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिए ठहरा हुआ है । भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा ?

२०५. सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है । सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है । दोनों ही मार्ग सुनकर ही जाने जाते हैं । बुद्धिमान साधक का कर्त्तव्य है कि पहले श्रवण करे और फिर अपने को जो श्रेय मालूम हो, उसका आचरण करे ।

२०६. जो न तो जीव [चेतनतत्त्व] को जानता है, और न अजीव [जड़तत्त्व] को ही जानता है, वह जीव अजीव के स्वरूप को न जाननेवाला साधक भला, किस तरह संयम को जान सकेगा ?

३०७. जो जीव को भी जानता है और अजीव को भी जानता है, ऐसा जीव और अजीव—दोनों को भलीभाँति जानने-वाला साधक ही संयम को जान सकेगा।

३०८. जब जीव और अजीव—दोनों को भलीभाँति जान लेता है, तब वह सब जीवों की नानाविध गति [नरक तिर्यंच आदि] को भी जान लेता है।

३०९. जब वह सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को भी जान लेता है।

३१०. जब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को जान लेता है, तब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगों को जान लेता है—अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है।

३११. जब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगों से विरक्त हो जाता है, तब अन्दर और बाहर के सभी सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है।

३१२. जब अन्दर और बाहर के समस्त सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है, तब मुण्डित (दीक्षित) होकर पूर्णतया अना-गार वृत्ति (मुनिचर्या) को प्राप्त करता है।

३१३. जब मुण्डित होकर अनागार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

३१४. जब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब [अन्तरात्मा पर से] अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को झाड़ देता है।

३१५. जब [अन्तरात्मा पर से] अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर लेता है।

३१६. जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

३१७. जब केवलज्ञानी जिन लोक अलोकरूप समस्त संसार को जान लेता है, तब (आयु समाप्ति पर) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोधन कर शैलेशी [अचल--अकम्प] अवस्था को प्राप्त होता है।

३१८. जब मन, वचन और शरीर के योगों का निरोधन कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है—पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों को क्षय कर—सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि [मुक्ति] को प्राप्त होती है।

३१९. जब आत्मा सब कर्मों को क्षय कर—सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि को पा लेती है, तब लोक के मस्तक पर—ऊपर के अग्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

३२०. जो श्रमण भौतिक सुख की इच्छा रखता है, भविष्यकालिक सुख-साधनों के लिए व्याकुल रहता है, जब देखो तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर में पड़कर हाथ, पैर, मुँह

आदि धोने में लगा रहता है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी दुर्लभ है।

३२१. जो उत्कृष्ट तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सरल है, क्षमा और संयम में रत है, शान्ति के साथ क्षुधा आदि परीषहों को जीतनेवाला है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी सुलभ है।

विवाद-सूत्र

नास्तिक वाद

३२२. कितने ही लोगों की ऐसी मान्यता है कि इस संसार में जो कुछ भी है वह केवल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश—ये पाँच महाभूत ही हैं।

३२३. उक्त महाभूतों में से एक [आत्मा] पैदा होती है, भूतों का नाश होने पर देही [आत्मा] का भी नाश हो जाता है। [अर्थात्—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह पाँच महाभूतों में से उत्पन्न होता है, और जब वे नष्ट होते हैं, तब उनके साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है।]

ब्रह्मवाद

३२४. जैसे, पृथ्वी का समूह (पृथ्वीस्तूप) एक [एकसमान] है, तो भी पर्वत, नगर, घट, शराव आदि अनेक रूपों में पृथक्-पृथक् मालूम होता है; उसी तरह समस्त विश्व भी विज्ञ-स्वरूप [एक ही चैतन्य आत्मा के रूप में समान] है,

तथापि भेद-बुद्धि के कारण वन, वृक्ष आदि जड़ तथा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चैतन्य के रूप मे पृथक्-पृथक् दिखाई देता है ।

तज्जीवतच्छरीरवाद

३२५. संसार में जितने भी शरीर हैं, वास्तव में वे ही एक-एक आत्मा हैं—अर्थात् आत्मा या जीव जो कुछ भी है, यह शरीर ही है । शरीर-नाश के बाद मूर्ख या पंडित, धर्मात्मा या पापी परलोक में जानेवाला कोई भी नहीं रहता। क्योंकि शरीर से पृथक् कोई भी सत्त्व (प्राणी) औपपातिक [एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होनेवाला] नहीं है।

३२६. न पुण्य है, न पाप है, और न इन दोनों के फलस्वरूप प्रस्तुत दृष्य जगत् से अतिरिक्त परलोक के नाम से दूसरा कोई जगत् ही है । शरीर के नाश के साथ ही तत्स्वरूप देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है ।

अक्रियावाद

३२७. आत्मा करनेवाला या करानेवाला—यों कहिए कि किसी भी प्रकार से कुछ भी क्रिया करनेवाला नहीं है । इसी भाँति कितने ही प्रगल्भ (धृष्ट) होकर आत्मा को अकारक [अकर्त्ता] बतलाते हैं ।

स्कन्धवाद

३२८. कितने ही बाल [अज्ञानी] ऐसा कहते हैं कि संसार में मात्र रूपादि पाँच ही स्कन्ध हैं और वे सब क्षणयोगी—

अर्थात् क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इनके अतिरिक्त, सहेतुक या निर्हेतुक तथा भिन्न या अभिन्न—दूसरा कोई भी (आत्मा-जैसा) पदार्थ नहीं हैं।

नित्यवाद

३२९. कितने ही लोगों का ऐसा कहना है कि पाँच महाभूत हैं, और इनसे भिन्न चित्स्वरूप छठा आत्मा है। तथा ये सब आत्मा और लोक शाश्वत हैं—नित्य हैं।

३३०. यह जड़ और चैतन्य—उभयस्वरूप जगत् न तो कभी नष्ट होता है, न कभी उत्पन्न ही होता है। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, सत् का कभी नाश नहीं होता, इसलिए सब पदार्थ सर्वथा नियतता [नित्यता] को प्राप्त हैं।

नियतिवाद

३३१. कितने ही ऐसा कहते हैं कि संसार में जीवात्माएँ नैमित्तिक अथवा अनैमित्तिक जो भी सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, तथा समय आने पर अपने स्थान पर च्युत होती हैं, वह सब आत्मा के अपने पुरुषार्थ से नहीं होता—नियति से ही होता है। अस्तु, जब अपने सुख-दुःख की आत्मा आप विधाता नहीं है, तब भला दूसरा कोई तो हो ही कैसे सकता है ?

३३२. जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् रूप से जो सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, वह न तो स्वकृत ही होता है और न परकृत ही। यह जो कुछ भी उत्थान या पतन हुआ करता है, सब सांगतिक है—नियति से है। [जब जहाँ जैसा बननेवाला होता है, तब वहाँ वैसा ही नियति-वश बन जाता है। इसमें किसी के पुरुषार्थ आदि का कुछ भी वश नहीं चलता।]

धातु-वाद

३३३. दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि पृथिवी, जल, तेज और वायु —इन चार धातुओं [धारक तथा पोषक तत्त्वों] का ही यह रूप [शरीर तथा संसार] बना हुआ है! इनके अतिरिक्त, दूसरा कुछ भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

जगत्कर्तृत्ववाद

३३४. जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कितने ही लोगों का यह भ्रान्तिमय वक्तव्य है—

—"कोई कहते हैं कि यह लोक देवों ने बनाया है।"

—"कोई कहते हैं कि यह लोक ब्रह्मा ने बनाया है।"

३३५. —"कोई कहते हैं कि यह लोक ईश्वर ने बनाया है।"

—"कोई कहते हैं कि जड़ और चैतन्य से युक्त तथा सुख और दुःख से समन्वित यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा बना है।"

३३६. —'कोई कहते हैं कि—यह लोक स्वयम्भू ने बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। अनन्तर मार ने माया का विस्तार किया—इस कारण लोक अशाश्वत (अनित्य) है।

उपसंहार

३३७. अपने-आपको पण्डित माननेवाले बुद्धिहीन मूर्ख इस प्रकार की अनेक बातें करते हैं। परन्तु नियति क्या है और अनियति क्या, यह कुछ भी नहीं जानते, समझते।

३३८. वे न तो ठीक-ठीक कर्म-सन्धि का ही ज्ञान रखते हैं, और न उन्हें कुछ धर्म का ही भान है। जो ऐसी अनर्गल बातें करते हैं, वे संसार [-समुद्र] से पार नहीं हो सकते।

३३९. जरा, मरण और व्याधि से पूर्ण संसार-चक्र में वे लोग बार-बार नाना प्रकार के दुःख भोगते रहते हैं।

३४०. वे लोग कभी तो ऊँची योनि में जाते हैं, और कभी नीची योनि में जाते हैं। यों ही इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार गर्भ में पैदा होंगे, जन्म लेंगे और मरेंगे—जिनश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है।

क्षमापन-सूत्र

३४१. धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवों के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

३४२. मैं नतमस्तक होकर भगवत श्रमणसंघ के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनको भी मैं क्षमा करता हूँ।

३४३. आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और साधर्मिक बन्धुओं तथा कुल और गण के प्रति मैंने जो क्रोधादियुक्त व्यवहार किया हो उसके लिए मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ।

३४४. मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा दान दें। सर्व जीवों के साथ मेरी मैत्रीवृत्ति है; किसी के भी साथ मेरा वैर नहीं है।

३४५. मैंने जो जो पाप मन से--संकल्पित--किये हैं, वाणी से बोले हैं और शरीर से किये हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जायँ।

मेरी-भावना

[रचियताः-श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार]

जिसने राग द्वेष कामादिक,
जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग का,
निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो ॥ १ ॥

विषयों की आशा नहीं जिन के,
साम्य-भाव धन रखते हैं।
निज-पर के हित साधन में,
जो निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुःख-समूह को हरते हैं ॥ २ ॥

रहे सदा सत्संग उन्हीं का,
ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उनही जैसी चर्य्या में यह—
चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊं किसी जीव को, झूठ कभी नहीं कहा करूं।
पर-धन बनिता पर न लुभाऊं, संतोषामृत पिया करूं ॥ ३ ॥

अहंकार का भाव न रक्खूं,
नहीं किसी पर क्रोध करूं।

देख दूसरों की बढ़ती को,
कभी न ईर्षा भाव धरूं।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूं।
बने जहां तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूं ॥ ४ ॥

मैत्री-भाव जगत में मेरा,
सब जीवों से नित्य रहे।
दीन-दुखी जीवों पर मेरे—
उर से करुणा स्रोत बहे।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग-रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूं मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥ ५ ॥

गुणी-जनों को देख हृदय में
मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहां तक उनकी सेवा—
करके यह मन सुख पावे।
होऊं नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे ॥ ६ ॥

कोई बुरा कहो या अच्छा।
लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊं या,
मृत्यु आज ही आजावे।
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे,
तो भी न्याय मार्ग से मेरा, कभी न पैर डिगने पावे ॥ ७ ॥

होकर सुख में मग्न न फूलें,
दुख में कभी न घबरावें।
पर्वत--नदी-श्मशान--भयानक—
अटवी से नाहिं भय खावें।
रहे अडोल अकंप निरन्तर, यह मन दृढ़ तर बन जावे।
इष्ट वियोग-अनिष्ट योग में, सहन शीलता दिखलावे ॥ ८ ॥

सुखी रहें सब जीव जगत् के,
कोई कभी न घबरावे।
बैर-पाप अभिमान छोड़ जग,
नित्य नये मंगल गावे।
घर घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावें।
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म फल सब पावें ॥ ९ ॥

ईति-भीति व्यापे नहीं जग में,
वृष्टि समय पर हुआ करे।
धर्म-निष्ठ होकर राजा भी,
न्याय प्रजा का किया करे।
रोग-मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत् में, फैल सर्व हित किया करे ॥ १० ॥

फैले प्रेम परस्पर जग में,
मोह दूर पर रहा करे।
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नाहिं,
कोई मुख से कहा करे।
बन कर सब युग--वीर हृदय से, देशोन्नति रत रहा करें।
वस्तु स्वरूप विचार खुशी से, सब दुख संकट सहा करें ॥ ११ ॥

जीवन-चरखा

[रच० -स्व कविवर भूधरदासजी]

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ।।टेक।।

पग-खूँटे द्वय हालन लागे, उर-मदरा खखराना ।
छीदी हुई पांखड़ी-पसली, फिरै नहीं मनमाना ।।१।।

रसना-तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटै ।
सबद्-सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी घड़ी पल टूटे ।।२।।

आयु-माल का नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे ।
रोग इलाज मरम्मत चाहै, वैद वाढ़ई हारे ।।३।।

नया चरखला रंगा-चंगा, सबका चित्त चुरावै ।
पलटा वरन, गए गुन अगले, अब देखै नहिं भावै ।।४।।

माटौ-महीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा ।
अन्त आग में ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सवेरा ।।५।।